

आखिर 'फुले' से किसे परेशानी है

फरीद खाँ

आज़ादी के बाद हमारे देश के सूचना और प्रसारण मंत्रालय ने फ़िल्मों के लिए 1952 (सिनेमैटोग्राफ़ अधिनियम 1952) में केन्द्रीय फ़िल्म प्रमाणन बोर्ड (सीबीएफ़सी) बनाया था, जिसे (सिनेमैटोग्राफ़ अधिनियम 1983) 1983 में संशोधित करके और लचीला बनाया गया। इसका काम फ़िल्मों को प्रमाण पत्र देना था न कि प्रतिबंधित करना। प्रमाण पत्र किस बात का, कि अमुक फ़िल्म को सार्वजनिक रूप से हर उम्र के नागरिक देख सकते हैं या केवल वयस्क देख सकते हैं। ऐसा करने का एक ही उद्देश्य था कि चूँकि फ़िल्मों का प्रभाव दूसरी अन्य कलाओं की अपेक्षा दर्शकों के मन-मस्तिष्क पर ज्यादा पड़ता है, इसलिए कहीं कोई इसका इस्तेमाल अपने पूर्वाग्रहों से ग्रस्त होकर समाज में वैमनस्य न फैला सके। पर इसका यह भी मतलब नहीं था कि प्रगतिशील वैज्ञानिक विचारों पर रोक लगा कर प्रतिगामी विचारों को बढ़ावा दिया जाए।

सचेत होकर देखने पर समझ आता है कि पिछले दस-ग्यारह सालों से सीबीएफ़सी ('सेंसर बोर्ड') ऐसी फ़िल्मों को ज्यादा बढ़ावा दे रहा है, जिसमें महिलाओं और मुसलमानों के खिलाफ़ हिंसा या कोई बात कही गई हो। जिस 'सेंसर बोर्ड' को 'एनिमल' जैसी हिंसक और महिला विरोधी फ़िल्म से कोई समस्या नहीं है, उसे 'इन गलियों में', 'संतोष' और 'फुले' से समस्या है। इससे लगता है कि यह संविधान के मूल्यों से नहीं बल्कि वर्तमान सत्ता की नीतियों से ज्यादा संचालित हो रहा है।

दिलचस्प तथ्य यह भी है कि अगर किसी फ़िल्म मेकर की फ़िल्म सार्वजनिक प्रदर्शन के लिए रोक दी गई हो तो वह एक उच्च स्तरीय ट्रिब्यूनल के सामने अपनी बात रख सकता था, जिसमें श्याम बेनेगल जैसे सिद्ध फ़िल्मकार हुआ करते थे। उसे 'द फ़िल्म सर्टिफिकेशन अपीलेट ट्रिब्यूनल' (एफ़सीएटी) कहते थे। इसकी स्थापना 1952 के सिनेमैटोग्राफ़ अधिनियम की धारा 5(डी) के अंतर्गत की गई थी। पर वर्तमान सरकार ने 2021 में इसे समाप्त कर दिया। यानी अब फ़िल्मों पर 'सेंसर बोर्ड' द्वारा किसी भी प्रकार के प्रतिबंध के खिलाफ़ फ़िल्म मेकर को हाईकोर्ट का ही दरवाज़ा खटखटाना होगा। 'इन गलियों में' के फ़िल्म मेकर को यही करना पड़ा तब जाकर उनकी फ़िल्म सार्वजनिक तौर पर दिखाई जा सकी। यह भी तथ्य है कि 'सेंसर बोर्ड' द्वारा किसी फ़िल्म को रोकना, फ़िल्म वितरकों और सिनेमा हॉल वालों के लिए एक 'सरकारी इशारा' भी होता है, जिसकी वजह से वैसी फ़िल्में सर्टिफिकेट मिलने के बावजूद बहुत कम सिनेमा हॉल में रिलीज़ हो पाती हैं। डर यह भी है कि कहीं हाई कोर्ट का दरवाज़ा खटखटाने का विकल्प भी बंद न हो जाए।

अब यह बात समझ लेना कोई मुश्किल नहीं है कि पिछले कई सालों से हमारा 'केन्द्रीय फ़िल्म प्रमाणन बोर्ड' अपनी भूमिका बदल कर उस 'सेंसर बोर्ड' की भूमिका में आ गया है जो आज़ादी के पहले यानी अंग्रेज़ों के राज में हुआ करता था, कि आप उस सरकार और उसकी मान्यताओं के खिलाफ़ न बोल सकते थे न अपनी असहमति व्यक्त कर सकते थे।

जिस तरह 'इन गलियों में' के निर्माता निर्देशक ने बॉम्बे हाईकोर्ट में अपील करके फ़िल्म को रिलीज़ करने की अनुमति हासिल कर ली वैसा फ़िल्म 'संतोष' के साथ संभव नहीं हो पाया। इसकी कोई विस्तृत जानकारी उपलब्ध नहीं है सिवाय इसके कि यह फ़िल्म भारत में किसी ओटीटी पर भी फ़िलहाल नहीं दिखाई जाएगी। खबरों में बताया गया है कि 'सेंसर बोर्ड' इस बात पर चिंतित है कि इस फ़िल्म में पुलिस का नकारात्मक चित्रण किया गया है। जबकि पूरी दुनिया जानती है कि हिंदी सिनेमा में अनेक ऐसी फ़िल्में मिल जाएँगी जिसमें पुलिस को न सिर्फ़ नकारात्मक दिखाया गया है बल्कि उसकी क़ूरता का अमानवीय चित्रण तक किया गया है।

आज 'सेंसर बोर्ड' का आलम यह है कि वह एक तरफ हिंसक पुरुषवादी और इस्लामोफोबिया बढ़ाने वाले विषयों को तरजीह देता है तो दूसरी तरफ जातिगत भेदभाव और महिलाओं के मुद्दों को सामने लाने से रोकता है। 'संतोष' इन सभी विषयों का एक सम्पूर्ण आख्यान है। इसलिए सीबीएफ़सी ने 'संतोष' के फ़िल्म मेकर को एडिट करने के लिए एक ऐसी लम्बी सूची थमा दी जिसे अगर मान लिया जाए तो फ़िल्म का कोई अर्थ ही नहीं रहेगा। ऐसा निर्देशक संध्या सूरी का मानना है। इसलिए उन्होंने अपनी फ़िल्म में ऐसी कोई काट-छांट नहीं की। जबकि 'फुले' के निर्माता और निर्देशक ने बोर्ड के कुछ 'सुझाव' मान कर उसे रिलीज़ कर दिया।

अपने एक इंटरव्यू में 'फुले' के निर्देशक अनंत महादेवन ने कहा कि 'उनके (सीबीएफ़सी) सुझाव' थे कि संवाद में 'पेशवाई' की जगह 'राजशाही' कर दिया जाए ताकि पेशवाओं की बदनामी न हो, और निर्देशक ने वह बदलाव कर भी दिया। यहाँ यह जानकारी देना ज़रूरी होगा कि ज्योतिबा फुले के समय पेशवाओं का राज था और पेशवाओं का राज वास्तव में ब्राह्मणों का राज था जिसमें दलितों और महिलाओं को जातिगत और लैंगिक भेदभाव सहना पड़ता था। आज जिन्हें हम दलित कहते हैं, उन्हें पेशवा राज में पढ़ने का अधिकार नहीं था। महिलाओं को भी पढ़ने का अधिकार नहीं था। ज्योतिबा फुले और सावित्री बाई फुले का पूरा संघर्ष ही इस पेशवाई (ब्राह्मणवादी) व्यवस्था के विरुद्ध था। इसलिए उस समय उस व्यवस्था के जो भी पोषक रहे हों उनके नाम इतिहास में दर्ज हैं। उनका नाम लेने में किसी को क्या आपत्ति हो सकती है ?

अभी एक फ़िल्म आई 'छावा'। उसमें क्या मुगलों की जगह राजशाही का 'सुझाव' दिया जा सकता था ? नहीं। क्योंकि 'सेंसर' बोर्ड को इस्लामोफोबिया से दिक्कत नहीं है। हालांकि यह अलग बात है कि न 'पेशवाई' बदलना चाहिए न 'मुगल-शाही'। जो ऐतिहासिक तथ्य है उसे वैसे ही रखना चाहिए। पर इसमें दोहरे मापदंड नहीं होने चाहिए।

बहरहाल, बात करते हैं उस पैटर्न की जिसके तहत फ़िल्मों को रिलीज़ होने से रोका जाता है या उनकी रिलीज़ मुश्किल कर दी जाती है। हमारी सीबीएफ़सी ऐसी फ़िल्मों की रिलीज़ रोकने में अपनी पूरी ताकत लगा देती है जिसमें सांप्रदायिक सद्भाव पर जोर दिया जाता है। जिसमें मुस्लिम पात्रों को सकारात्मक, बेकसूर या नायक दिखाया जाता है। सीबीएफ़सी को एक खलनायक मुसलमान ही चाहिए।

इसके बाद बारी आती है महिलाओं और दलितों की भी। उन्हें महिला नायकत्व वाली फ़िल्में भी नहीं चाहिए क्योंकि 'पेशवाई' में लड़कियों का पढ़ना लिखना मना था। ऊपर से अगर वह महिला अगर दलित या पिछड़े समाज की हो तो...। वह 'संतोष' हो तो...। वह सावित्री बाई 'फुले' हो तो...।

हिंदी फ़िल्मों में दलित नायक हुए पर उनकी कहानी के केंद्र में जाति व्यवस्था नहीं थी। वे हमेशा अमीर-गरीब के दायरे में बंधे रहे। इसलिए कभी दलित के रूप में पहचाने नहीं गये। पर फ़िल्म 'फुले' में न सिर्फ़ एक दलित महात्मा की कहानी है बल्कि जाति व्यवस्था के विरुद्ध उनके संघर्ष की कहानी है, यह हिंदी में पहली बार हुआ है। इस अर्थ में यह फ़िल्म बहुत महत्वपूर्ण हो जाती है।

इस फ़िल्म में महात्मा फुले के कुछ ज़रूरी संवाद हैं –

'हमारे गाय के मूत्र से अपना घर पवित्र करेंगे लेकिन हमसे दूरी बना कर रखेंगे'।

'हम इतिहास को तो नहीं बदल सकते पर इतिहास से सीख कर बेहतर भविष्य का निर्माण ज़रूर कर सकते हैं'।

इसके अलावा एक और संवाद जो आज हमारे लिए बहुत ज़रूरी है, खास कर उनके लिए जो लोग 'फुले' की प्रासंगिकता पूछ रहे हैं – 'हमारा देश एक भावुक देश है, यहाँ धर्म और जाति के नाम पर लोगों को लड़ाना बड़ा ही आसान है। यह भविष्य में भी होगा। क्रांति की इस जोत को जलाए रखना, यही आपको सही मार्ग दिखाएगी'।

(संभव है कि इन संवादों में हूबहू शब्द न आ पाए हों)

हरानी होती है कि मराठी में महात्मा फुले पर कई फ़िल्में मिल जाती हैं लेकिन हिंदी में इसके पहले एक भी फ़िल्म नहीं मिलती। जबकि श्याम बेनेगल ने टीवी सीरीज़ 'भारत एक खोज' में एक एपीसोड ज्योतिबा फुले पर बनाया है जिसकी

पटकथा गोविन्द पी. देशपांडे ने लिखी थी।

यह समझना जरूरी है कि मनुवादियों को चुनौती देने वाले नायक-नायिकाओं पर क्या हिंदी में फ़िल्म बनाने वाले नहीं हैं या हिंदी पट्टी में उनके दर्शक नहीं हैं। जिस तरह दक्षिण भारत और महाराष्ट्र में दलित आन्दोलन का असर रहा है उस तरह के आन्दोलन या उनके असर हिंदी पट्टी में देखने को नहीं मिलते। क्या इसीलिए हिंदी पट्टी में सांप्रदायिकता का इस क़दर बोलबाला है ?

बहरहाल, फुले दंपति द्वारा लड़कियों के लिए स्कूल और विधवाओं के लिए आश्रम और उनके पुनर्विवाह की कोशिशों से निश्चित रूप से हमारा समाज आगे बढ़ा है, जिसे अभी और आगे बढ़ना है। समग्रता में फ़िल्म 'फुले' असल में एक समाज सुधारक फुले दंपति की कहानी है जो अपना गहरा प्रभाव छोड़ती है और मनुवादियों को असहज करती है।

(लेखक हिंदी के जाने-माने कवि और पटकथा लेखक हैं)